घोषणा पत्रों का अन्वेषण

आम चुनाव में घोषणापत्र की अहमियत को नकारने में स्वयं राजनीतिक दलों की भी कम भूमिका नहीं है। इन घोषणाओं पर अमल हो न या न हो, लेकिन इससे उनकी नीयत व सोच की दिशा का आभास तो हो ही जाता है। प्रस्तुत आलेख कांग्रेस, भाजपा व आप जैसे राजनीतिक दलों के चुनावी घोषणापत्रों की चीर–फाड़ पर कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने खड़ा कर रहा है।

आशीष कोठारी

चुनावी घोषणापत्र इस बात की ओर इशारा करते है कि सत्ता में आने पर राजनीतिक दल क्या करना चाहते हैं। यह जरूरी नहीं है कि सत्ता में आने पर वे इस पर अमल करें, लेकिन इससे दल की मनःस्थिति का भान होता है कि किस तरह जनता के हितों की रक्षा की जाएगी। इस लिहाज से आम आदमी पार्टी का घोषणापत्र कांग्रेस और भाजपा से कहीं आगे है, वैसे इसके कई बिंदुओं से निराशा भी होती है। इस वक्त भारत के सामने तीन प्रमुख चुनौतियां है, जिम्मेदार एवं जवाबदेह राजनीतिक शासन को हासिल करना, आर्थिक और सामाजिक कल्याण सुनिश्चित करना (विशेषकर ऐसे व्यापक वर्ग हेतु जो कि अभी भी गरीब है) और बिना पारिस्थितिकीय विध्वंस किए जीवन को जीने लायक बनाना। विकास के कई दशक पुराने मॉडल जिसमें कि पिछले दो दशकों का वैश्विक संस्करण भी शामिल है, इसे प्राप्त नहीं कर पाया है और इसने भारत को कमजोर ही किया है।

शासन के स्तर पर भ्रष्टाचार एवं सार्वजनिक क्षेत्र में अकर्मण्यता अभी भी व्याप्त है, लोगों को सशक्त बनाने वाली स्वशासी संस्थाएं कमजोर बनी हुई हैं और उस ओर बढ़ते हस्तांतरण ने पूर्व रूप से गैरजवाबदेह श्रेष्ठी वर्ग को राजनीतिक शक्ति सौंप दी है। यदि सामाजिक आर्थिक मोर्चे पर बात करें तो विभिन्न प्रकार के वंचन (भोजन, पानी, रहवास, वस्त्र, सेनीटेशन, स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा) से कम से कम 70 प्रतिशत जनसंख्या जूझ रही है और इन्हें भी निजी हाथों में सौंपा जा रहा है, जिससे कि ये अमीर लोगों के हाथ में जा रही है और गरीबों की पहुंच से बाहर होती जा रही हैं। अमीरों और गरीबों के बीच बढ़ती खाई (भारत की आधी से अधिक संपत्ति 10 प्रतिशत के हाथ में है) भी हमें शर्मिंदा करती हैं। अंत में पर्यावरण के मोर्चे पर अनेक सर्वेक्षण हमें बता रहे हैं कि हम अस्थिरता और आत्मघात के फिसलन भरे रास्ते पर चल रहे हैं और विश्व बैंक सरीखा संकुचित नजरिये वाला संगठन भी पर्यावरणीय लागत घटाने के बाद भारत का सकल घरेलू उत्पाद में शून्य प्रतिशत वृद्धि बता रहा है।

व्यक्तियों को सशक्त बनाए बिना जवाबदेह व जिम्मेदार राजनीतिक शासन असंभव है। ऐसे में प्रथम तल पर गांवों में ग्रामसभा व नगरों में मोहल्ला समितियों को निर्णय प्रक्रिया में शामिल करना होगा। वैसे तो सभी दल विकेंद्रीयकरण की बात करते है, लेकिन 'स्वराज' के माध्यम से 'आप' इसके सबसे नजदीक पहुंचा है

शासन : व्यक्तियों को सशक्त बनाए बिना जवाबदेह व जिम्मेदार राजनीतिक शासन असंभव है। ऐसे में प्रथम तल पर गांवों में ग्रामसभा व नगरों में मोहल्ला समितियों को निर्णय प्रक्रिया में शामिल करना होगा। वैसे तो सभी दल विकेंद्रीयकरण की बात करते हैं, लेकिन 'स्वराज' के माध्यम से 'आप' इसके सबसे नजदीक पहुंचा है और उसने वायदा किया है कि विकास गतिविधियों हेतु सीधे स्थानीय निकायो को धन देगी और भुगतान में भी लोगों की सहमति ली जाएगी। बाकी के दोनों दल शहरी शासन के विकेंद्रीकरण पर मौन हैं।

सत्ता के विकेंद्रीकरण का सबसे गंभीर पक्ष है कि भूमि, प्राकृतिक संसाधनों और अन्य मुद्दों का, जिन पर की लोगों का जीवन व जीविका निर्भर है, का क्या होगा? सिर्फ 'आप' ने ही कहा है कि भूमि अधिग्रहण एवं खनिज, वन एवं जल ग्रामसभा के अधिकार क्षेत्र में होंगे। मजेदार बात यह है कि कांग्रेस भी वन अधिकार कानून के क्रियान्वयन एवं वनों को अन्य परियोजनाओं में हस्तांरित करने पर मौन रही है। यही

से हर कोई देशभक्त है। जाहिर है, देशभक्ति से उनका मतलब संघी किस्म की संकीर्णता से कतई नहीं था।

दूसरे मुल्कों से मिसाल ढूंढें तो वेनेजुएला के ऊगो चावेज कोई बड़े विचारक नहीं थे, पर लोगों को अपने साथ लेने में न केवल वे अपने देश में कामयाब हुए, बल्कि समूचे लातिन अमेरिका और दुनिया के और दीगर देशों में भी मुक्तिकामी जनता के लिए प्रेरणा के स्रोत बने। यही बात क्यूबा के बारे में भी कुछ हद तक कही जा सकती है– कास्त्रो का नाम कम्युनिस्ट इतिहास में विचारक नहीं, बल्कि एक कुशल प्रशासक और रणनीतिज्ञ की तरह ही जाना जाता है। चे ग्वेरा को लोग उनकी रोमांटिक क्रांतिकारी की छवि के लिए ही जानते हैं।

इन सबके विपरीत जहां भी वैचारिक शुद्धता पर जोर ज्यादा रहा है, वहां लोगों के साथ नेतृत्व का संबंध टूटा है और वहां साम्राज्यवादी ताकतों को घुसपैठ करने का मौका मिला है। ग्रेनाडा और अफगानिस्तान इसके अच्छे उदाहरण हैं। इसके बरअक्स वेनेजुएला में सैद्धांतिक विचारकों ने अपनी सीमाओं को और चावेज की लोकप्रियता को पहचानते हुए उन्हें सत्ता की बागडोर संभालने दी। उनकी मौत के बाद वैसे ही करिश्मे के किसी नेता के न होने से वहां जनवादी ताकतों में विभाजन हो रहा है और इसका फायदा अमेरिकी साम्राज्यवाद को मिल रहा है।

प्रगतिशील आंदोलन ने आंबेडकर को क्रांतिकारी नेता मान कर अपनी गलती सुधार ली है। सवाल मुहावरे, लहजे और आत्मीयता का भी है। क्या वाम नेतृत्व समय के साथ बदलते सही मुहावरे ढूंढ़ने में विफल हुआ है? जो लोग मीडिया के झांसे में आ गए हैं वे ऐसा ही कहेंगे। सच यह है कि देश में चल रहे तकरीबन सभी जनांदोलन किसी न किसी तरह के वाम प्रभाव में हैं। समस्या यह है कि वाम के पास चुनावी तंत्र में बेहद सरमाया का इस्तेमाल और मीडिया के पक्षपात से टक्कर लेने की क्षमता नहीं है। दूसरा खेल गठबंधनों का है। ऐसे दलों के साथ गठबंधन करते हुए जिनकी छवि बिगड़ चुकी है, जवाबदेह तो होना पड़ेगा। जहां जितना मौका मिलता है, बुनियादी मुद्दों पर वापस जाना होगा और भावनात्मक पक्षों का ध्यान रखते हुए सांगठनिक प्रक्रियाओं को मजबूत कर जनचेतना के लिए संघर्ष करना होगा।

अक्सर साथ–साथ काम करते हुए विभिन्न संगठन इस वजह से अलग हो जाते हैं कि उन्हें एक दूसरे पर शक रहता है कि वे अपना प्रभाव बढ़ा कर दूसरे को हाशिए पर धकेलना चाहते हैं। इस प्रवृत्ति का एक ही हल है कि हम इससे होते नुकसान को समझें। आखिर में लोग अपने आप सही रास्ता ढूंढेंगे। शक–शुबहे में फंस कर आंदोलन को बिखरने न दें। अपने बड़े उद्देश्य को सामने रखें। छोटे–छोटे गुटों में प्रभाव बढ़ा कर सामयिक संतोष तो मिल सकता है, पर लंबी अवधि में यह खुद को भी और जनता को भी नुकसान पहुंचाता है। इसलिए बदलती परिस्थिति में पहली शर्त यह होनी चाहिए कि किसी भी तरह से साझी लड़ाई को बिखरने न देंगे। अच्छे प्रार्थियों के साथ गठबंधन हर चुनाव क्षेत्र में हो सकता है, पर जब राज्य या राष्ट्रीय स्तर पर गठबंधन करना हो तो साफ तौर पर यह बताना जरूरी है कि यह केवल एक रणनीति है और गठबंधन मे शामिल दलों की हर नीति को हमारा समर्थन नहीं है।

जनपक्षीय ताकतों में अब भी अगर बिखराव नहीं रुका और हम आपसी बहस में ही सारी ऊर्जा खत्म करते रहे तो यह आम लोगों के साथ विश्वासघात होगा। सामाजिक बदलाव के लिए जो कुर्बानियां आंदोलनों के साथ जुड़े कार्यकर्ताओं ने दी हैं, वे व्यर्थ न जाएं यह देखना है।

अब यह साफ हो गया है कि जनपक्षधर बहुत सारी ऊर्जा आपस की लड़ाई में ही खर्च हो जाती है और संघ परिवार को इसका पूरा फायदा मिला। यह उसी तरह है जैसे 1930 के दशक में जर्मनी में केपीडी और एसपीडी जैसी पार्टियां इसी बहस में उलझी हुई थीं कि जर्मन समाज का सही वर्गीय चरित्र क्या है और हिटलर ने सत्ता हथिया ली। जनपक्षीय ताकतों में अब भी अगर बिखराव नहीं रुका और हम आपसी बहस में ही सारी ऊर्जा खत्म करते रहे तो यह आम लोगों के साथ विश्वासघात होगा। सामाजिक बदलाव के लिए जो कुर्बानियां आंदोलनों के साथ जुड़े कार्यकर्ताओं ने दी हैं, वे व्यर्थ न जाएं यह देखना है। सारी दुनिया में पूंजीवाद का संकट गहरा रहा है। देखना है कि हम हाल के इतिहास से सही सबक ले पाते हैं या नहीं। ❐

हाल भाजपा का भी है।

यदि सामाजिक–आर्थिक मोर्चे पर बात करें तो आर्थिक वैश्वीकरण के पिछले दो दशकों ने संगठित क्षेत्र में रोजगार सृजन रोक सा दिया है। सभी दल रोजगार में असाधारण वृद्धि की बात कर रहे हैं। बीजेपी ने श्रम आधारित उद्यमों पर जोर दिया है। आप का भी कहना है कि रोजगार सृजन उसकी आर्थिक नीति का प्राथमिक लक्ष्य है तथा वह गांव के शहरों की ओर पलायन रोकेगी। इस हेतु वह पारंपरिक उद्योगों को बढ़ावा देगी, छोटे उद्योगों एवं कृषि क्षेत्र जिसे बेहतर अधोसंरचना उपलब्ध होगी और औपचारिक ऋण तक आसान पहुंच और यथोचित तकनीकी हस्तक्षेप तथा बेहतर समर्थन मूल्य की व्यवस्था करेगी। कांग्रेस का भी 'रोजगार एजेंडा' है, जो सरकार बनाने के 100 दिनों के भीतर लागू हो जाएगा। परंतु लगता नहीं है कि उसने पिछले दो दशकों की रोजगार विहीन वृद्धि दर से कुछ सबक लिया है और वह औद्योगिक कॉरीडोर, शहरी क्लस्टर, निर्यात वृद्धि की रट लगाए हुए है।

दुर्भाग्यवश इन वायदों की कोई कीमत नहीं है। पिछले दो दशकों में लाखों मजदूर घर बैठ गए हैं। जबरिया विस्थापन से लोग मछली मारने, वानिकी, कृषि, शिल्प, पशुपालन जैसे अनेक उद्यमों से बाहर हो गए हैं। आर्थिक असमानता की बढ़ती खाई की अनदेखी सभी दलों ने की है। किसी भी दल ने अनाप–शनाप वेतन, संपत्ति, अमीरों को दिए जा रहे लाभ पर रोक लगाने की बात नहीं की है।

पर्यावरणीय सुस्थिरता : पर्यावरण के मोर्चे पर हम पाते हैं कि तीनों ही दल एक जैसे ही हैं। वे भारत (और पूरी पृथ्वी) की सीमित प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों को संकट में डाले बिना अगली पीढ़ी तक पहुंचाने पर चुप है तथा जीडीपी पर ही अपना दांव लगा रहे हैं। *भाजपा* व *कांग्रेस* से तो ऐसी ही उम्मीद थी, पर इस मामले में *'आप'* ने आश्चर्य मे डाल दिया है। क्योंकि इसकी कार्यकारिणी में ऐसे अनेक सदस्य हैं जो इन विरोधाभासों को समझते हैं। वैसे पिछले कुछ महीनों में कांग्रेस ने पर्यावरण के प्रति कुछ सम्मान दिखाया है, लेकिन तीसरी बार वह ऐसा करेगी इसके संकेत घोषणापत्र से नहीं मिले। बल्कि निवेश पर केबिनेट कमेटी बनाकर उसने भविष्य के संकेत दे दिए हैं।

प्रत्येक दल ने जलसंवर्धन को लेकर विकेंद्रीकरण की बात कही हैं, लेकिन किसी ने भी यह नहीं कहा है कि इसे महाकाय परियोजनाओं की बनिस्बत प्राथमिकता दी जाएगी। सभी घोषणापत्रों में रिन्युवेबल ऊर्जा की बात की गई है। आप के घोषणापत्रों में इस तरह स्रोतों को स्थानीय हाथों में सौंपने की बात है। सभी निर्माण क्षेत्र को बढ़ावा देने की बात कर रहे हैं। लेकिन बढ़ते शर्मनाक उपभोक्तावाद, खासकर अमीरों द्वारा एवं अनैतिक विज्ञापन पर सभी मौन हैं। किसी ने भी यह उल्लेख नहीं किया है कि खतरनाक प्लास्टिक और इलेक्ट्रानिक अपशिष्ट से कैसे मुक्ति पाई जाएगी। वैसे भाजपा ने एक सार्वजनिक यातायात प्रणाली के माध्यम से निजी वाहनो पर निर्भरता समाप्त करने की प्रशंसनीय पहल दिखाई है। इसमें यात्रा समय व पर्यावरणीय लागत का भी उल्लेख है। कांग्रेस ने भी सार्वजनिक यातायात का उल्लेख किया है, लेकिन निजी के मुकाबले इसे प्राथमिकता नहीं दी है। वैसे आप ने इस पर आश्चर्य–जनक चुप्पी साधी है।

कृषि के संबंध में संरक्षण, जैविक प्रणाली, सूखी खेती आदि को लेकर स्वागतयोग्य प्रतिबद्धता दर्शाई गई है। वहीं आप ने खेती एवं पशुओं की देशज किस्मों को प्रोत्साहन देने की बात भी की है। लेकिन हरित क्रांति संबंधित प्राथमिकता को लेकर अभी भी स्पष्टता नहीं है।

कृषि के संबंध में संरक्षण, जैविक प्रणाली, सूखी खेती आदि को लेकर स्वागतयोग्य प्रतिबद्धता दर्शाई गई है। वहीं आप ने खेती एवं पशुओं की देशज किस्मों को प्रोत्साहन देने की बात भी की है। लेकिन हरित क्रांति संबंधित प्राथमिकता को लेकर अभी भी स्पष्टता नहीं है। जीनांतरित बीजों (जीएम) को किसी भी दल ने अस्वीकार नहीं किया है। वैसे भाजपा ने घोषणापत्र में पूरी तरह से वैज्ञानिक और जैविक प्रभाव के परीक्षण के बाद अनुमति का कहा है। कांग्रेस ने खुदरा में एफडीआई की वकालत की है। कृषि में विदेशी निवेश के विपरीत प्रभाव पड़ सकते हैं। 'भाजपा' व 'आप' ने कम से कम इसे नकारा है।

सामान्य तौर पर कहें तो इन तीनों दलों में से केवल 'आप' ही है जिनसे 'पर्यावरण' व 'अर्थव्यवस्था' को अंतर्निहित समानता माना है और एक विशिष्ट विकास मॉडल की बात की है जो कि 'न्यायपूर्ण व सुस्थिर होगा।' लेकिन इसका अर्थ समझा पाने में वह भी असफल रही हैं। इस तरह के मॉडल में स्थानीयता सर्वोपरि है। वैसे आप के घोषणा पत्र में भी आंतरिक विरोधाभास दिखाई देता है। खासकर आर्थिक पारिस्थितिकीय मोर्चे पर। कांग्रेस व भाजपा अपने पूर्ववर्ती रुख पर ही कायम हैं। इससे भारत भविष्य में राजनीतिक, आर्थिक व पर्यावरणीय गिरावट की ओर लुढ़क सकता है। ❐

याराना पूंजीवाद

कमल नयन काबरा

क्या कोई आस्तिक कहे मैं अवतारों का विरोधी हूं, तो क्या यह तर्क–संगत, गंभीरता तथा दूरगामी विचार माना जाएगा? लगता नहीं कि गुड़ खाकर गुलगुलों से परहेज बहुत दूर तक जा सकता है। यह आस्था की सीमाबद्ध करना है, इसे पूरी तरह वैज्ञानिक मानसिकता का सूचक मानना कठिन है : शायद एग्नोस्टिसिज्म का उदाहरण पूंजीवाद एक अमूर्त विचार या अवधारणा है। यह एक पूरी समाज– व्यवस्था, मुख्यतः उसकी अर्थव्यवस्था, के मूलभूत, मूल्यगत, वैचारिक, संस्थागत, संचालन, प्रचलन, विकास अथवा परिवर्तन प्रक्रिया और शक्तियों आदि को एक अमूर्त अवधारणात्मक और सैद्धांतिक ढांचे में बांधता है। अतः उसके विभिन्न अंगों के आपसी संबंधों को संगत तथा पूरी अवधारणा को तर्कसंगत बनाना जरूरी अनिवार्यता होती है। किंतु मानवीय समानता तथा पूरी तरह लोकतांत्रिक मूल्य केवल पूंजीवाद को अस्वीकारने से बहुत ज्यादा है।

धीरे–धीरे अनेक देशों में पूंजीवाद का प्रस्फुटन, पुरानी व्यवस्था के गर्भ से, क्रमशः उसका प्रतिस्थापन करते हुए हुआ। पूंजीवाद अंततः पूंजीवाद–ठोस, जमीनी हकीकत वाले पूंजीवाद का जहां, जिन विविधतामय रूपों, परिस्थितियों आदि में उदय और विकास हुआ और जिन प्रभावों, प्रक्रियाओं, विवशताओं और चयनित स्पष्ट अनेक निर्णयों का प्रभाव इस उदीयमान और संघर्षों के थपेड़ों के बीच आगे बढ़ती, ठोस रूपग्रहण करती व्यवस्था पर, अतीत के अवशेषों तथा खंडहरों के बीच उभरते निजाम पर पड़ा, उनमें या तो विश्वव्यापी तथा इतिहास के सभी कालखंडों में एक–रूपता और न ही अमूर्त सैद्धांतिक अवधारणा या अपेक्षा करना वाजिब और व्यावहारिक होगा। सीधे शब्दों में, पूंजीवाद की अमूर्त, सैद्धांतिक अवधारणा और 'विशुद्ध' कार्य–प्रणाली, क्रमिक परिवर्तन क्रम निश्चित रूप से जमीनी हकीकत के स्तर पर भिन्न होंगे। अनेक किस्म के पूंजीवाद जमीनी हकीकत हैं। गैर–पूंजीवाद मतवाद में भी काफी भिन्नता, कमियां और अपर्याप्तता मिलती है।

आज हम अनेक देशों में पूंजीवाद के एक यथार्थ में प्रचलित अनेक रूप या मॉडल देख रहे हैं, खास कर भारत और उससे मिलते–जुलते देशों में इसके एक संस्करण को इन दिनों याराना पूंजीवाद कहा जाने लगा है। कहावत है कि पूत के पांव पालने में ही दिखने लगते हैं। पूंजीवाद क्रमिक परिवर्तनों के विभिन्न स्थानों, क्षेत्रकों, कार्यकलापों आदि में चल रहे अथवा जबरिया चलाए गए बहुत अलग–अलग किस्म के फैसलें, कार्यों, प्रयोगों तथा आपसी खींचतान से अपना ठोस रूप ग्रहण करता हुआ विभिन्न मुकामों पर आ पहुंचा है। इनका पिछले कुछ दशकों से निरंतर ठोस रूप ग्रहण करते मॉडल को कई देशो में याराना पूंजीवाद कहा जा सकता है। यह निजाम करीबन विश्वव्यापी सा हो गया है। इन सब प्रक्रियाओं में नैतिकता, सामाजिकता, पारस्परिक मानवीयता और सौहार्दपूर्ण संबंधों का पुट तेजी से घटता बढ़ता रहा है। धर्म, राष्ट्रीयता, वैयक्तिक, वर्गीय, सांस्कृतिक, सामरिक आदि अनेक क्षेत्रकों, प्रभावों, प्रेरणास्रोतों आदि (पूरी फेहरिस्त बनाना काफी कठिन है) का विभिन्न अनुपातों और रूपों में प्रभाव जमीनी हकीकत वाले पूंजीवादी मॉडलों में काफी सक्रिय और विभिन्नतामय योगदान रहा है। हम इनका केवल उल्लेख भर करके ही संतोष कर सकते हैं। असली सवाल है कैसे, क्यों पूंजीवाद ने एक ऐसा चरित्र बनाया जिसे याराना पूंजीवाद कहा जाता है। यह सवाल पूंजीवाद के तहत राज्य की भूमिका, उसके चरित्र और पूंजीपतियों के एक या भिन्नतामय वर्गों तथा एकल पूंजीपति के राज्य के साथ तुलनात्मक तथा निरपेक्ष संबंधों से जुड़ा हुआ है। पूंजीवाद के आदर्श सैद्धांतिक ढांचे में राज्य और पूंजोपतियों में वैसा ही संबंध होता है जो शेष नागरिकों के साथ होता है। विशेषतः पूंजीवाद के राष्ट्रवादी तथा लोकतांत्रिक दावों के चलते। पूंजीपतियों की आपसी प्रतियोगिता में माना गया था कि राज्य सबसे समान दूरी रखता है और एक तटस्थ भूमिका निभाता है। राज्य सुरक्षा, न्याय आदि की व्यवस्था में सबके साथ एक समान व्यवहार करे यह एक आदर्श अपेक्षा है। किंतु पूंजीवाद में सफलता पाने वालों की शक्ति बढ़ती है। और

असली सवाल है कैसे, क्यों पूंजीवाद ने एक ऐसा चरित्र बनाया जिसे याराना पूंजीवाद कहा जाता है। यह सवाल पूंजीवाद के तहत राज्य की भूमिका, उसके चरित्र और पूंजीपतियों के एक या भिन्नतामय वर्गों तथा एकल पूंजीपति के राज्य के साथ तुलनात्मक तथा निरपेक्ष संबंधों से जुड़ा हुआ है।